



दैनिक भास्कर

Date: 15-09-18

दहेज कानून की ताकत फिर पहुंची पुलिस के पास

संपादकीय

सुप्रीम कोर्ट ने अपने ही एक फैसले को पलटते हुए दहेज उत्पीड़न रोकने के लिए बनी भारतीय दंड संहिता की धारा 498 ए के तहत सीधे गिरफ्तारी का अधिकार फिर पुलिस के पास देकर अपनी सीमाएं रेखांकित कर ली हैं। इस फैसले के तहत अब दहेज की शिकायत की सत्यता जांचने वाली परिवार कल्याण समितियों का हस्तक्षेप खत्म हो जाएगा और यह पुलिस ही फैसला करेगी कि शिकायत सही है या गलत। अदालत ने यह फैसला देते हुए एक महत्वपूर्ण बात यह कही है कि संविधान अदालत को यह अधिकार नहीं देता कि अगर किसी कानून में कोई कमी रह गई है तो वह उसे पूरा करे। उसे पूरा करने का अधिकार विधायिका को है। एक साल पहले 2017 के जुलाई में न्यायमूर्ति एके गोयल और न्यायमूर्ति यूयू ललित ने यह मानते हुए कि दहेज की फर्जी शिकायतें बहुत आ रही हैं और उसके कारण परिवार के बूढ़े और रिश्तेदारों को भी परेशान किया जाता है, फैसला दिया था कि अब दहेज की शिकायत आने पर एक कल्याण समिति जांच करेगी। जांच करने वाली समिति जब मामले को सही पाएगी तभी पुलिस गिरफ्तारी करेगी। इस निर्णय के तहत हर जिले में ऐसी समितियां बनाए जाने का आदेश हुआ था। भारत के मुख्य न्यायाधीश दीपक मिश्र, एएम खानविलकर और डीवाई चंद्रचूड़ की पीठ ने न्यायाधार नामक एनजीओ की याचिका पर फैसला सुनाते हुए उन कल्याण समितियों को भंग कर दिया। एक तरह से अदालत दहेज पीड़ित महिला और कानून पीड़ित परिवार वालों के बीच एक संतुलन बनाने की दुविधा में थी और उसने आखिरकार संबंधित कानून के पक्ष में अपने पुराने फैसले को वापस ले लिया। पता नहीं यह हाल में आए एससीएसटी कानून के बाद का असर है या फिर महिला अधिकार संगठनों का लेकिन, अदालत मानवाधिकारों का हवाला देकर उन कानूनों को कमजोर करने से बचती नज़र आ रही है, जिन्हें सामाजिक न्याय के लिए बनाया गया है। शायद अदालत को यह अहसास हो रहा है कि सामाजिक न्याय की आवश्यकता और उसके पक्ष में खड़े आंदोलन उसके फैसले की आलोचना और विरोध कर सकते हैं इसलिए यह मामला विधायिका के पास ही छोड़ना उचित है। हालांकि, अदालत ने यह कहा है कि दहेज कानून का दुरुपयोग रोकने के लिए सीआरपीसी में धारा 41ए और अग्रिम जमानत के प्रावधान पहले से मौजूद हैं।

नईदुनिया

Date: 15-09-18

अखरने वाली है नेपाल की बेरुखी

नेपाल ने पुणे में बिम्सटेक के संयुक्त सैन्याभ्यास से ऐन मौके पर पीछे हटने का जो पैंतरा दिखाया, वह हैरान करने वाला था।

डॉ. रहीस सिंह , (लेखक विदेश संबंधी मामलों के जानकार हैं)



बीते अगस्त के आखिर में जब बिम्सटेक (बे ऑफ बंगाल इनिशिएटिव फॉर मल्टी-सेक्टरल टेक्निकल एंड इकोनॉमिक कोऑपरेशन) का चौथा शिखर सम्मेलन काठमांडू में आयोजित हुआ, तब ऐसा लग रहा था कि नेपाल पुरानी कड़वाहटों को भूलकर पुनः भारत के साथ आगे बढ़ने की राह चल पड़ा है। लेकिन उसके बाद नेपाल ने पुणे में बिम्सटेक के संयुक्त सैन्याभ्यास से ऐन मौके पर पीछे हटने का जो पैंतरा दिखाया, वह हैरान करने वाला था। उससे भी ज्यादा हैरानी की बात यह कि नेपाल उस चीन के साथ सैन्याभ्यास के संकेत दे रहा है, जिससे भारत की प्रतिद्वंद्विता जगजाहिर है।

नेपाल ही नहीं, अन्य पड़ोसी देश भी धीरे-धीरे हमसे दूर छिटक रहे हैं। आखिर इसकी क्या वजह है? क्या यह नेपाल सहित हमारे तमाम पड़ोसियों की अदूरदर्शिता है, जो वे चीन की छद्म उपनिवेशवादी नीति को न समझते हुए उसके जाल में फंसते जा रहे हैं? अथवा, जैसा कुछ आलोचक मानते हैं कि भारत इस समय भ्रामक कूटनीतिक रास्ते पर चल रहा है और इस वजह से ऐसा हो रहा है?

दुनिया की महाशक्तियां हों या फिर उभरते शक्तिशाली देश, सभी अपनी विदेश नीति के प्रतिपादन एवं संचालन में पड़ोसी देशों के साथ संबंधों को प्राथमिकता देते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि दुनिया के अन्य देश हमें अपने पड़ोसियों की नजर से भी देखते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि पड़ोसियों के साथ प्रतिकूल संबंध वैश्विक कूटनीति में हमें इच्छित भूमिका पाने से वंचित कर देते हैं या फिर उनमें बाधाएं उत्पन्न करते रहते हैं, जिससे हमें अतिरिक्त प्रयास करने पड़ते हैं। फिलहाल, भारत इन दोनों स्थितियों से गुजरता रहा है, क्योंकि पाकिस्तानी 'स्टेट एक्टर्स' भारत को अपना दुश्मन नंबर-1 मानते हैं, इसलिए उनका हरसंभव प्रयास हमें नुकसान पहुंचाने का रहता है। इधर, अन्य छोटे पड़ोसी देश भी भारत से दूर हटते दिख रहे हैं। तो क्या वे स्मॉल स्टेट सिंड्रोम के शिकार हैं या इसकी वजह कोई और है?

भारत शुरू से ही सह-अस्तित्व, एफ्रो-एशियाई भातृत्व और 'पड़ोसी पहले की नीति का पक्षधर रहा है, बावजूद इसके परिणाम भारत के पक्ष में जाते नहीं दिख रहे। पाकिस्तान तो घोषित रूप से भारत विरोधी रहा ही है, लेकिन अब नेपाल भी उसी राह पर आगे बढ़ता दिख रहा है। भारत और नेपाल की सीमाएं खुली हैं। दोनों देशों में लगभग प्रत्येक स्तर पर समानता पाई जाती है और नेपाल के लोग प्राचीन दौर से ही भारत को अपना दूसरा घर मानते रहे हैं। लेकिन नेपाल के सत्ता-प्रतिष्ठान की ओर से इस समय जो संकेत मिल रहे हैं, उन्हें कतई अच्छा नहीं कहा जा सकता। पिछले 15 दिन के घटनाक्रम पर नजर दौड़ाएं, तो नेपाल की ओर से भारत को तीन झटके दिए गए। पहला झटका वह था, जब नेपाल ने पुणे में हो रहे बिम्सटेक संयुक्त सैन्याभ्यास में शामिल होने से इनकार कर दिया और अपनी सैन्य टुकड़ी वापस बुला ली। नेपाल की तरह से भारत को दूसरा झटका तब लगा, जब नेपाल ने यह घोषणा की कि उसकी सेना इसी महीने 17 से 28 सितंबर के बीच चीन के साथ सैन्याभ्यास में हिस्सा लेगी। नेपाल का चीन के साथ यह दूसरा सैन्याभ्यास (सागरमाथा फ्रेंडशिप-2) है, जो चीन के 'चेंग दूम' होगा। भारत को तीसरा झटका तब लगा, जब पुणे में 16 सितंबर को होने जा रहे बिम्सटेक देशों के सेनाध्यक्षों के सम्मेलन का आमंत्रण नेपाल के सेना प्रमुख पूर्ण चंद्र थापा द्वारा ठुकरा

दिया गया। संयुक्त सैन्याभ्यास और बिम्सटेक देशों के सेनाध्यक्षों की बैठक में थाईलैंड की भागीदारी भी नेपाली पैटर्न का अनुसरण करती दिख रही है। तब किस आधार पर कहा जा सकता है कि ये उपक्षेत्रीय संगठन भारतीय हितों के अनुरूप पड़ोसी देशों को कनेक्ट करने में सफल हो पाएगा या भारत अपने पड़ोसियों में पैठ बनाकर उपक्षेत्रीय नेतृत्व हासिल करने में सफल हो जाएगा? आखिर क्या वजह है कि भारत के पड़ोसी देश कुछ कदम साथ चलकर दूसरी दिशा पकड़ लेते हैं?

पड़ोसियों के इस रवैये का एक कारण तो चीन है। चीन इन देशों को भारत से दूर ले जाने की भरपूर कोशिश कर रहा है। चीन के इसके पीछे दो उद्देश्य हैं। पहला, उन देशों के इन्फ्रास्ट्रक्चर और प्राकृतिक संसाधनों में निवेश कर उनकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण कायम करना एवं सरकार पर दबाव की रणनीति अपनाना। दूसरा, इन देशों के जरिए भारत को घेरने की रणनीति को साधना। चूंकि सार्क और बिम्सटेक जैसे संगठनों के जरिए भारत एशियाई महाद्वीप में अपना असर बढ़ाने की कोशिश कर रहा है, इस स्थिति में चीन भारत को उसके पड़ोसियों के जरिए ही रोकना चाहेगा। यही हो भी रहा है। तब क्या हम मान लें कि भारत की विदेश नीति चीन के मुकाबले अनसुलझी, अस्थिर, तदर्थवादी अथवा भ्रम की शिकार है। हम नेपाल की तरफ चलते हैं। नेपाल सही अर्थों में चीन के साथ सैन्याभ्यास कर भारत की उत्तरी सीमाओं तक चीनी सैन्य गतिविधियों को खींच कर लाने का काम कर रहा है, जो भारत के लिए चिंता का विषय होना चाहिए। यही नहीं, अब तक पाकिस्तान ही एक ऐसा देश था, जहां राष्ट्रवाद भारत के विरोध पर पनपता है, लेकिन अब उसी तरह की स्थितियां नेपाल में भी दिखनी शुरू हो गई हैं। यह भारत के लिहाज से हितकर नहीं।

आखिर इसकी वजह क्या है? इसकी सबसे अहम वजह तो वर्ष 2015 में भारत की तरफ से अघोषित नाकेबंदी रही। ध्यान रहे कि वर्ष 2015 में नेपाल में चले मधेशी आंदोलन के दौरान भारत की तरफ से अघोषित नाकेबंदी की गई थी, जिसकी वजह से नेपाल में जरूरी चीजों की भारी दिक्कत पैदा हो गई थी। नेपाल को उस समय चीन की तरफ देखना पड़ा था और चीन ने तत्काल आपूर्ति भी सुनिश्चित करा दी थी। इस घटना के बाद से अब तक भारत और नेपाल के बीच संबंधों में पुराना भरोसा नहीं लौट पाया। बाद में नेपाल के प्रधानमंत्री केपी ओली ने चीन की यात्रा की और दोनों में हुई पारगमन संधि के बाद चीन ने नेपाल के लिए थियान्जिन, शंजेन, लिआनियुगेंग और श्यांजियांग पोर्ट खोल दिए। यही नहीं, चीन ने नेपाल को लैंड पोर्ट लॉजोऊ, लासा और शिगैट्से के इस्तेमाल पर भी सहमति जता दी है। इसके दोतरफा नतीजे होंगे। एक तरफ नेपाल की भारत पर निर्भरता कम होगी और दूसरी ओर चीन नेपाल में भारत की तुलना में अपनी मौजूदगी कहीं अधिक बढ़ाने में सफल हो जाएगा।

कुल मिलाकर नेपाल और चीन के मध्य बढ़ती नजदीकियां भारत के लिए एक बड़ी चुनौती बन सकती हैं। दूसरी बात यह है कि श्रीलंका के राष्ट्रपति मैत्रीपाला सिरिसेना अपने पूर्ववर्ती महिंदा राजपक्षे द्वारा बनाए गए उस रास्ते पर मुड़ चुके हैं, जिसकी दिशा बीजिंग की ओर है। मालदीव आज भारत के हेलिकॉप्टर रखने को तैयार नहीं है, लेकिन चीन एवं पाकिस्तान के फाइटर उसके एक्सक्लूसिव जोन की सुरक्षा कर रहे हैं। डोकलाम प्रकरण के बाद भूटान भी विचलित है, तो वहीं बांग्लादेश चीन की ओर अधोसंरचनात्मक विकास की खातिर देख रहा है। यह देखकर यही लगता है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अपने शपथ ग्रहण समारोह के साथ 'नेबर्स फर्स्ट' जो नीति अपनाई थी, उसमें उलझनें पैदा हो गई हैं। ऐसे में जरूरी यह है कि भारत तदर्थवादी या प्रतिक्रियात्मक नीति अपनाने के बजाय अग्रसक्रिय नीति अख्तियार करे।

दैनिक जागरण

Date: 14-09-18

बच्चों को मिले मातृभाषा में शिक्षा का अधिकार

अमिताभ पाण्डेय



मानव सभ्यता के विकास में भाषा की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भाषा केवल संवाद करने का शक्ति माध्यम नहीं है। यह मनुष्य के भावों, संवेदनाओं के प्रकटीकरण के लिए आवश्यक है। भाषा के माध्यम से हमारी परंपराओं, संस्कृति और संस्कार का भी पता चलता है। भाषा मनुष्य को सभ्य और ज्ञानवान बनाने में सहयोग करती है। सभ्य और ज्ञानवान मनुष्यों से मिलकर श्रेष्ठ राष्ट्र की रचना का सपना साकार होता है। बेहतर देश की कल्पना को साकार करने के लिए पहले बेहतर मनुष्य होना जरूरी है। यह भाषा ही है जो अपने साथ विचार, भाव, संवेदना, संस्कार, संस्कृति का ज्ञान शिशु को प्रदान कर उसे श्रेष्ठ मनुष्य बनने की ओर अग्रसर करती है। हम जिस भाषा का उपयोग बोलने, बताने, आपसी बातचीत में करते हैं, वही भाषा बच्चे आसानी से समझ सकते हैं। इसी भाषा को बोलने में बच्चों को अधिक सुविधा होती है। ऐसी भाषा में ही बच्चे अपेक्षाकृत अधिक बेहतर तरीके से शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

आजादी के बाद हमारे देश के नीति निर्माताओं, शिक्षाविदों ने भाषा के महत्व को गंभीरता से समझा और विदेशी भाषा अंग्रेजी के स्थान पर शासकीय कामकाज को भी हिन्दी भाषा में महत्व दिया। हिन्दी को राजभाषा बनाये जाने की प्रक्रिया प्रारंभ की गई। वर्ष 1955 में प्रथम राजभाषा आयोग का गठन हुआ। वर्ष 1956 में इस आयोग द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट पर संसद के दोनों सदनों में विचार किया गया। इसके बाद रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेज दी गई। राष्ट्रपति की अनुशंसा पर प्रथम राजभाषा आयोग की रिपोर्ट के अनुसार अनुच्छेद 343 के अधीन संसद ने राजभाषा अधिनियम 1963 बनाया। अनुच्छेद 351 के अधीन यह स्वीकार किया गया है कि हिन्दी के विकास के लिए हार संभव प्रयास किये जायेंगे।

हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए भारत सरकार और इसके अंतर्गत विभिन्न राज्यों, केन्द्र शासित प्रदेशों की सरकारें अपने-अपने स्तर पर लगातार प्रयास कर रही हैं। इसके बाद भी गुलामी का प्रतीक मानी जाने वाली अंग्रेजी भाषा से छुटकारा नहीं मिल पा रहा है। हालात इतने इतने चिंताजनक होते जा रहे हैं कि जो अंग्रेजी भाषा पहले उच्च अधिकारियों तक, ईसाई मिशनरी के स्कूलों तक ही सीमित थी, वह अब सरकारी स्कूलों से लेकर गांव, शहर के गली मोहल्लों तक फैले निजी स्कूलों तक जा पहुंची है। इसका सर्वाधिक नुकसान हिन्दी के साथ ही विभिन्न राज्यों में बोली जाने वाली उन क्षेत्रीय भाषाओं को हो रहा है जिनके बोलने, बताने वाले लगातार कम हो रहे हैं। अंग्रेजी के विस्तार ने विभिन्न राज्यों के अलग-अलग इलाकों में बोली जाने वाली स्थानीय भाषाओं, बोलियों का प्रचलन सीमित कर दिया है। हाल यह हो गया है कि हमारी स्थानीय भाषाएँ और बोलियाँ हम से लगातार छूटती जा रही हैं। स्थानीय भाषाओं, बोलियों में जो भाव, संस्कृति और परंपराएँ हैं, वे भी इसके साथ खत्म होती जा रही हैं।

अंग्रेजी भाषा को साजिशन पूर्व प्राथमिक और प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रमों में इस प्रकार डाल दिया गया है कि इसके कारण क्षेत्रीय भाषाएँ और बोलियाँ स्कूलों से बाहर हो रही हैं। अंग्रेजी का बढ़ता प्रचलन हिन्दी भाषा को कमजोर करने में लगा है। इसके कारण क्षेत्रीय भाषाओं, बोलियों, जनजातीय समुदाय में बोली जाने वाली भाषाओं के अस्तित्व पर ही संकट गहरा गया है। यह धीरे-धीरे खत्म होने की ओर बढ़ रही है। इनको जानने वाले लोग कम होते जा रहे हैं। आजाद देश के अंग्रेजी बोलने वाले लोग खुद को श्रेष्ठ वर्ग का मानकर हिन्दी को निचले दर्जे का बताने का कोई मौका नहीं छोड़ते। अंग्रेजी बोलने वालों की यह मानसिकता हिन्दी बोलने वालों के मन में हीन भावना पैदा करने की कोशिश कर रही है।

अंग्रेजी को बचपन से बच्चों के दिमाग में घुसाने की स्वार्थपूर्ण साजिश के कारण बच्चों की परेशानी बढ़ गई है। वे अपने घरों में माता-पिता, परिवारजनों से जिस भाषा में बात करते हैं, उसी में शिक्षा ग्रहण करना चाहते हैं। ऐसा करना आसान भी है। यह जानते हुए भी हम अपने बच्चों को पहली कक्षा में दाखिल करने के पहले से ही अंग्रेजी भाषा के पाठ पढ़ने-पढ़ाने पर मजबूर कर रहे हैं। जो भाषा उनके लिए समझना कठिन है उसे बच्चों के मन, मस्तिष्क पर जबरन डाला जा रहा है। इस संदर्भ में अंतराष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग के उन सिद्धांतों का जिक्र करना जरूरी होगा जिसमें कहा गया है कि बच्चे को उसकी मातृभाषा में ही शिक्षा दी जाना चाहिए। यदि बच्चे को मातृभाषा में शिक्षा नहीं दी जाए तो यह उसके अधिकारों का हनन माना जाएगा।

यहां यह बताना जरूरी है कि जो भाषा अपने घरों में बोलते, सीखते हैं, उसमें उन्हें सीखने, समझने में ज्यादा आशानी होती है। यदि प्राथमिक स्कूलों में पढ़ाई के लिए मातृभाषा अथवा क्षेत्रीय भाषाओं, बोलियों को अनिवार्य कर दिया जाए तो इसके अवश्य ही अच्छे परिणाम देखने को मिलेंगे। बच्चे अपने परिवार में बोलने वाली भाषा का उपयोग स्कूलों में होते देखेंगे तो इससे उनकी प्रतिभा और अधिक बेहतर हो सकेगी। इसका कारण यह है कि प्राथमिक शिक्षा में स्थानीय भाषा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। अब समय आ गया है कि बच्चों को केवल शिक्षा के अधिकार दिये जाने की बात कह कर ही अपनी जिम्मेदारी पूरी ना कर ली जाए बल्कि हर बच्चे को उसकी मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार मिले। सरकार और समाज के नीति निर्धारकों को बच्चों के बेहतर भविष्य के लिए इस दिशा में परिणामदायक प्रभावी प्रयास करना चाहिए ।

A higher policy burden

Top-down, centrally managed policies oppress India's education sector. More autonomy, radical restructuring of goals, enlightened leadership are necessary for a turnaround

Dinesh Singh , [The writer is former vice-chancellor, University of Delhi and distinguished senior fellow, Advanced Hackspace, Imperial College.]

Two recent events seem like missteps in India's efforts to chart a mature and productive path in the realm of higher education. The first of these events is the effort of the government to produce an education policy and the second is its intent to foster "institutions of eminence". The idea of an education policy has socialist, and even communist, overtones that are not in tune with a government that leans to the right. I wonder what logic prompted the top-down effort to create institutions of eminence in such a selective manner that leaves the vast majority of educational institutions struggling and mired in the deathly quicksand of bureaucratic control and mediocrity.

At one time, the IITs were created with exactly the same intentions and in a similar manner. But the performance of the IITs has been largely uninspiring. Three factors can be blamed for this situation — too much government control, largely mediocre faculty and no programme or activity to connect with India's challenges and needs so as to inspire students. As an example of government meddling, consider this amusing two-line cryptic resolution adopted for all the IITs a year ago by the IIT Council: "It was decided that each IIT may adopt at least one National Laboratory near to it and enter into an MoU mutually beneficial to both".

Of course, the public at large perceives an IIT to be a sort of super institution meant for talented children. And they do attract very smart students. But smart students must be matched by highly inspiring faculty, and by creating programmes of learning that are in tune with societal challenges. Further, these institutions must be given time, freedom and an enlightened leadership to mature. In the initial phase, the IITs failed to meet the urgent need of grasping the special aspirations and requirements of an independent India; they failed to invent and innovate to address the country's needs. Not one IIT aided our space or nuclear programmes. When it came to building bridges, roads or dams, there was hardly any creative input from any IIT.

Of course, each of the first five IITs was, in the initial years, tethered to a well-known institution abroad and did adopt in limited ways some aspects of a reasonable curriculum. But it was not done in a well-thought out manner that would have allowed originality to flourish in the Indian context. The one change, dictated by the American model, which the IITs adopted to break the colonial mould, was to have a semester system. But they failed to allow their students to truly imbibe and flourish under a trans-disciplinary system, which the semester system can allow with greater ease than an annual mode of examination. And over time, the faculty tended to settle into harmonious mediocrity with the usual, but few, outstanding exceptions. The tragedy is these exceptions failed to create lasting and great traditions.

Also, the IITs and the government neglected to put in place a major virtue of the American system that attracts, recognises and rewards good faculty at the global level. The IITs also failed to recognise that diversity is the key to survival and they could not develop outstanding qualities and features that would distinguish one IIT from another. For instance, the IITs have a joint entrance examination that looks for identical attributes and abilities in every aspirant. This, in itself, denotes that there is nothing special that any individual IIT offers. The entrance examination does not differentiate between any special qualities that would make the abilities required of a civil engineering aspirant stand out and be recognised as different from the abilities needed of an electrical engineering aspirant.

Contrast this with MIT, Harvard and Caltech, which admit students into their respective engineering programmes but through differing selection processes even while relying a great deal on SAT. Incidentally, SAT itself has come under criticism in recent times. Another illustration of their diversity is how these notable US institutions teach freshman calculus, but in ways that differ from each other. Has any of our IITs created an economically powerful entrepreneurial ecosystem in its immediate

neighbourhood or elsewhere? No path-breaking knowledge-based idea of practical import, such as the search engine Google, seems to have emerged from the IITs. They are largely teaching institutions and if someone of the stature of N R Narayana Murthy bemoans the inadequacies of IIT graduates, then we need to be worried.

Indian universities have an even more disappointing track record. Their only major innovation in recent years is the adoption of a semester mode exemplified by the fact that, more often than not, the courses they teach have been mechanically split from an annual mode into two halves. It would have been a magical transformation had they taken advantage of the semester system to breed a pedagogy that engenders trans-disciplinary learning blended with project-based activities for real-world knowledge acquisition and creation. The best way to gauge the lacklustre quality of Indian universities is to ask if any Nobel laureate from any part of the world has ever expressed willingness to join any of our universities as faculty.

In addition, the restrictive and overbearing policies of government agencies have made true innovation and experimentation near impossible. For instance, the choice-based credit system, a mutilated version of an American concept, has forced universities to collectively drop diversity and adopt a largely common curriculum imposed from above, compelling them to sink to abysmal levels. Universities are failing at an alarming pace in their responsibility to foster research. India has consistently put its money on specialised research institutes that lack students and do not deliver the way a university can, as in the US. Another mechanism India has not paid attention to is the use of government funding agencies to raise and foster high quality research. These funding agencies have not nudged research in the universities towards the needs and challenges of the nation, and of society, as much as they could have.

We must not fail to recognise that the American system of higher education has generated its own set of serious problems and drawbacks. So, India must chart its own original path. Some valuable lessons could be imbibed from our own heritage: Ask what allowed the calculus to be discovered by Bhaskaracharya and Madhavacharya hundreds of years before the time of Isaac Newton. In modern times, much can also be learned from the Indraprastha Institute of Information Technology at Delhi. It is truly autonomous, serves the society well, has good and wise leadership and faculty and students to match. Its outstanding record may be because two successive state governments wisely left it alone and did not burden it with any policy!
